

दैनिक जागरण

Date: 31-01-17

नई विश्व व्यवस्था की संभावना



यह तो पहले से तय था कि डोनाल्ड ट्रंप 20 जनवरी को अमेरिकी राष्ट्रपति के तौर पर शपथ लेंगे, लेकिन यह स्पष्टता नहीं थी कि वह पहले दिन से ही अपने चुनावी वादों को पूरा करने में जुट जाएंगे। वह ऐसा करते ही दिख रहे हैं और इसीलिए उनके आलोचक कुछ ज्यादा ही चिंतित नजर आ रहे हैं-न केवल अमेरिका के भविष्य को लेकर, बल्कि दुनिया की भावी दशा-दिशा को लेकर भी। ध्यान रहे कि दुनिया में बुनियादी बदलाव की पहली ठोस शुरुआत लगभग सौ साल पहले प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुई थी जो तीस साल बाद द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ पूरी हुई।

पिछले सत्तर साल से लगभग वही मूल अवस्था थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ काम कर रही थी। बीते कुछ महीनों के अंदर घटी तीन घटनाओं ने उसे फिर से एक नए बदलाव की दहलीज पर लाकर

खड़ा कर दिया है। पहली घटना ब्रेक्जिट की है। ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय संघ से अलग होने के जनमत पर इस संघ के अध्यक्ष ने कहा था कि यह सिर्फ यूरोपीय संघ के अंत की ही शुरुआत नहीं है, बल्कि पश्चिमी सभ्यता के अंत की भी शुरुआत है। दूसरी घटना इटली की थी। हालांकि उसे कम महत्व दिया गया। इटली ने अपने युवा प्रधानमंत्री के संविधान संशोधन प्रस्ताव को जनमत संग्रह के द्वारा ठुकराकर एक प्रकार से यूरोपीय संघ की आशंका पर मुहर लगा दी। यह माना जा रहा है कि इटली यूरोपीय संघ से अलग होने वाला दूसरा यूरोपीय देश होगा। तीसरी घटना अमेरिका में घटी और यह गैर पारंपरिक नेता डोनाल्ड ट्रंप की जीत के तौर पर सामने आई। दुनिया की उम्मीदों के विपरीत राष्ट्रपति पद के लिए ट्रंप जीते। कहा जाता है कि खुद ट्रंप को अपनी जीत की उम्मीद नहीं थी। क्या दो महाद्वीपों के तीन देशों में घटी इन तीन घटनाओं में कोई साम्यता है और क्या ये एक नए विश्व के आकार लेने की आहट दे रही हैं। इन तीनों घटनाओं की दो बातें बेहद चौंकाने वाली हैं।

पहली और सबसे महत्वपूर्ण यह है कि इन्होंने अब तक की परंपरागत बौद्धिक मान्यताओं एवं अनुमानों को बुरी तरह झुठला दिया। इन्होंने मध्यम एवं उच्च वर्गों के हितों एवं विचारों पर आधारित व्यवस्था को दरकिनार करके एक नई व्यवस्था के प्रति अपनी आकांक्षा व्यक्त की। भले ही इस नई व्यवस्था की व्याख्या दक्षिणपंथी राजनीतिक दर्शन के संदर्भ में की जाए। निःसंदेह इसके केंद्र में रोजगारविहीनता की स्थिति प्रधान रूप से रही है। अमेरिका तक में 1980 से लेकर 2013 तक के बीच मध्यम वर्ग का आकार काफी छोटा हुआ। इस दौरान कॉलेज की डिग्री से रहित लोगों की आय में भारी गिरावट आई। यह बात गौर करने की है कि बड़बोले और यहां तक कि बदमिजाज कहे जाने वाले ट्रंप को उन क्षेत्रों में ही सबसे ज्यादा वोट मिले जहां पिछले दस सालों में चीनी सामान का आयात सबसे अधिक बढ़ा है। ट्रंप की इस बात ने लोगों को आकर्षित किया कि विश्व के इतिहास में नौकरियों की इतनी बड़ी चोरी कहीं नहीं हुई है, जितनी अमेरिका के साथ हो रही है।

यूरोप भी इस आर्थिक संकट से त्रस्त है। इसे एक प्रकार से विश्व आर्थिक-ग्राम के विरुद्ध व्यक्त तीव्र एवं स्पष्ट आक्रोश की अभिव्यक्ति मान सकते हैं। तो क्या यह माना जाए कि आर्थिक उदारीकरण की सांस फूलनी शुरू हो गई है? न मानने का कोई कारण नजर नहीं आ रहा है। जब यूरोप के देश ही अपनी एका को नहीं संभाल पा रहे हैं तो दुनिया कैसे संभालेगी। वैसे भी ट्रंप का अमेरिका जब चीन से सस्ते सामान और भारत से सस्ती सेवाओं पर प्रतिबंध लगाने की सोचेगा तो अन्य देश भी अपनी नीतियों में बदलाव लाने को मजबूर होंगे। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है- जनमत। ये तीनों निर्णय जन-प्रतिनिधियों के निर्णय नहीं हैं, बल्कि सीधे-सीधे जनता के निर्णय हैं। इसलिए इनका न केवल महत्व बढ़ जाता है,

बल्कि उस पर पुनर्विचार करने की संभावना भी खत्म हो जाती है। दुनिया के राजनीतिक परिदृश्य पर अन्य जो दो बहुत बड़े बदलाव संभावित नजर आ रहे हैं, उनमें एक है-बचे-खुचे शीतयुद्ध की समाप्ति तथा दूसरा है-आतंकवाद के खिलाफ सामूहिक जंग का होना। इन दोनों का श्रेय ट्रंप को मिल सकता है। ट्रंप ने साफ-साफ कहा है कि वह रूस के साथ अच्छे संबंध बनाना चाहते हैं। सूचनाओं के अनुसार रूस ने ट्रंप को चुनाव में मदद भी की है। अपनी इस बात की तस्दीक ट्रंप ने यह कहकर कर दी है कि फिलहाल दुनिया को सबसे बड़ा खतरा इस्लामिक स्टेट से है। इसके खात्मे के लिए वह पुतिन के साथ एक अस्थायी गठजोड़ बना सकते हैं।

उल्लेखनीय है कि सीरिया के मामले में अमेरिका और रूस एक-दूसरे के विरुद्ध हैं, जिसका फायदा आइएसआइएस को मिल रहा है। निश्चित रूप से इस नीति से जहां विश्व आतंकवाद की कमर टूटेगी, वहीं अमेरिका की विश्व की अगुआई करने वाले देश की छवि पर भी असर पड़ेगा। वैसे भी दुनिया के राजनीतिक नक्शे पर जिस प्रकार से नए-नए खिलाड़ियों का उदय हो रहा है, उस पृष्ठभूमि में तकनीकी और आर्थिक सहायता देकर विश्व की गारंटी देने वाला राष्ट्र बनने की अवधारणा अब्यावहारिक लगने लगी है। यह बात ओबामा को भी समझ में आने लगी थी, जिसे ट्रंप अंजाम तक पहुंचा देंगे, ऐसा लगता है। नाटो में भी एक प्रकार की बेचैनी व्याप्त हो गई है।

इसके लिए अमेरिका अपने जीडीपी का 3.61 प्रतिशत खर्च देता है, जो एक बड़ी रकम है। यूरोप के केवल चार अन्य देश अपनी जीडीपी का दो-दो प्रतिशत देते हैं। शेष सदस्य राष्ट्रों ने अपना योगदान बंद कर दिया है, जिस पर ट्रंप ने अपनी नाखुशी जाहिर की है। जाहिर है कि रूस से दोस्ती सध जाने के बाद नाटो की उतनी जरूरत भी नहीं रह जाएगी। वार्सा संधि खत्म हो ही गई है। ऐसा होने पर विश्व सैन्य स्थिति में एक बड़ा परिवर्तन आएगा। जहां तक चीन की बात है, उसको लेकर दो संभावनाएं व्यक्त की जा सकती हैं। पहली यह कि चीन के सामान एवं सेवाओं के आयात पर अमेरिका द्वारा प्रतिबंध लगाए जाने से इन दोनों महाशक्तियों के बीच एक व्यापारिक-जंग छिड़ सकती है, जो दुनिया के लिए अच्छी नहीं होगी। दूसरी यह कि अमेरिका द्वारा अपनी विश्व भूमिका को कम करने पर जो अनिश्चितता उत्पन्न होगी उसका फायदा उठाने के लिए चीन आगे आ सकता है। ट्रंप द्वारा प्रशांत भागीदारी संधि से अपना हाथ खींचने का संकेत देने पर चीन द्वारा व्यक्त की गई प्रतिक्रिया यही बताती है, लेकिन चीन का उभार विश्व के लिए शुभ नहीं कहा जा सकता। भारत के लिए शुभ होने का तो सवाल ही नहीं उठता।

[लेखक डॉ. विजय अग्रवाल, पूर्व प्रशासनिक अधिकारी हैं]



दैनिक भास्कर

Date: 31-01-17

इतिहास, फिल्म और आहत भावनाओं का सवाल

पद्मावती फिल्म के बहाने जो विवाद उठा है उसने फिर साबित किया है कि भारत में संविधानवाद गहरे तनाव में है और राज्य की भूमिकाएं समाज के गैर-जिम्मेदार लोगों ने अपने हाथ में ले ली हैं। उससे भी बड़ी बात यह है कि फिल्मी जगत के कलाकार और लेखक, इतिहास और मिथक के साथ अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर घालमेल कर रहे हैं।

संविधान में अभिव्यक्ति की आज़ादी पर अंकुश लगाने के लिए अपवाद दिए गए हैं और वे आधार तय करने के लिए सेंसर बोर्ड से लेकर अदालतों तक हैं। किंतु राज्य के समानांतर सामाजिक स्तर पर तमाम संगठन हैं, जो आहत भावनाओं के नाम पर इतिहास, मिथक और कला को सेंसर करने पर आमादा हैं। इसमें कई बार राज्य की सहमति भी होती है और कई बार राज्य लाचारी से उन लोगों की हिंसक गतिविधियों को निहारता रहता है। इससे कम चिंताजनक बात यह नहीं है कि जो लोग इतिहास के नाम पर फिल्म बना रहे हैं वे उसमें कल्पना का तत्व डालकर उन मिथकों से खेलने की कोशिश कर रहे हैं, जो लोगों के मानस में रूढ़ हो गए हैं। इतिहासकार नजफ हैदर का यह कथन उचित ही है कि संजय लीला भंसाली अगर ऐतिहासिक फिल्म बना रहे हैं तो उसमें मिथक का इस्तेमाल क्यों कर रहे हैं और अगर मिथकीय फिल्म बना रहे हैं तो इतिहास का इस्तेमाल क्यों कर रहे हैं। उनकी सारी दिक्कत यहीं उत्पन्न होती है।

समाज के इतिहास और मिथक का अपने व्यवसाय के लिए रचनाशीलता के नाम पर दोहन करने वाले फिल्मकार नहीं समझ रहे हैं कि यह समाज इतिहास और संविधान जैसे गंभीर विषयों को स्वीकार करने को तैयार नहीं है तो उनकी भावनाओं को आहत करने वाली फिल्म कैसे स्वीकार करेगा? यह भारतीय लोकतंत्र का गंभीर संकट है, जिसका समाधान आसान नहीं है। यह तभी संभव है जब समाज और राज्य नागरिक अधिकारों को कुचलने की बजाय उसके अनुरूप अपने दायित्वों का निर्वाह करें। दूसरी तरफ समाज के पढ़े-लिखे लोग फेसबुक, ट्विटर का इस्तेमाल झूठी खबरों के आधार पर भावनाएं भड़काने की बजाय तर्क, तथ्य और विवेक के प्रचार में लगाएं। निश्चित ही हम पोस्ट-ट्रुथ सोसायटी की ओर बढ़ रहे हैं जहां सच क्या है उसे पता करने की बजाय जाति, धर्म और चिढ़ के आधार पर आहत भावनाओं की राजनीति चल रही है और समाज का बेहद खंडित चरित्र उभर रहा है।



THE TIMES OF INDIA

Date: 31-01-17

When a rumour about a fantasy sequence on an imaginary queen led to real violence

The assault on Bhansali and creative freedom



Let's get this straight: a rumour about a fantasy sequence in a film about an epic on an imaginary queen led to last week's real and shameful violence in Rajasthan. The Karni Sena, a bunch of Rajput-honour vigilantes, stormed the sets of Padmavati and assaulted its director Sanjay Leela Bhansali. They ordered him to excise scenes that didn't even exist, between Allauddin Khilji and Padmini. This violence visited upon Bhansali is, sadly, one of contemporary India's most familiar scenes. Artists, writers and filmmakers are routinely punished for insulting a community's honour, and its "icons". Even scholarship and humour must be on constant guard. We like our historical figures super-sized and one-dimensional. Nobody important must be "shown in bad light". We are afraid of our own shadows.

Why were the Karni Sena hoodlums so angry? Because the story of Delhi sultan Allauddin Khilji invading Chittor to possess its beautiful queen Padmini, and of Padmini choosing to immolate herself than submit, is deeply significant to them. Padmini is the conjuring of a Sufi poet's imagination, there is no material evidence

that she existed. Her story, though, has great folkloric power because of how it validates and ignites Rajput identity. When seen through a worldview where Hindu-Muslim enmity is the sole driver of all historical events, such stories seem all too real and resonant.

But for all the Karni Sena's fierce feelings and bristling moustaches, this incident is a straightforward matter of vigilante violence. It's not about history and fiction, or even freedom of expression; it is about the rule of law. This incident is another demonstration of the Indian state, the Vasundhara Raje Scindia government in this case, not being strong enough to hold the bully's flying fists and protect other citizens. This happens over and over again, each incident encouraging the next. In Maharashtra, assorted senas and brigades have made a performance out of such assaults, enabled by the state; recall the rampage through the Bhandarkar Oriental Research Institute. The demands made on movie-makers have been increasingly flimsy and absurd – Karan Johar was made to apologise for a character mentioning 'Bombay' in the slacker-comedy *Wake Up Sid*. An apolitical romantic drama like *Ae Dil Hai Mushkil* was attacked because a Pakistani actor was part of the cast, and a 'compromise' shabbily brokered by the state government. Any unwitting word can be an affront to someone, somewhere. And instead of refusing to watch the movie or book, or countering it with ideas of their own, the identity warriors use the might of the state to shut you down, or worse, simply hit out themselves.

That impoverishes all of us. It ensures that only the most bland and respectful art can circulate. It takes away the zest and freedom that is essential to creativity, it implants a small censor in your mind. Even in stated works of fiction, you can't mess around, you can't be subversive, you can't be curious about complicated historical figures, you can't tease apart myths, you can't explore alternative possibilities. When all is holy, all is silent. This is not to say that free speech is an utter and absolute value; hate speech that reinforces exclusion and prejudice can be reasonably contested in a diverse democracy. Only the most unrealistic laboratory liberals would object to peaceful demonstrations, drawing attention to your feelings, or petitioning the courts. But the problem is, our institutions rarely make that delicate judgment call, they simply give in to the loudest agitators, like the powerful upper-caste men leading the Karni Sena. All too often, from Wendy Doniger to James Laine, our courts aren't balancing the values of free speech with full and fair democratic participation, they are simply acquiescing with the majority.

This time, though, Bhansali's Bollywood colleagues have kept their differences aside and swung to his defence. This is rare – the movie industry, for all its persuasive power, liberal climate and cheerful diversity, has not pushed back often enough for such values. Perhaps Karni Sena is marginal enough for them to take a stand without worry, unlike the Senas in their neighbourhood, or perhaps this violence was truly the last straw. Either way, if even Karan Johar is moved enough to say "this cannot be our future", there's a flicker of hope for creative freedom.

THE ECONOMIC TIMES

Date: 31-01-17

Donald Trump's travel ban give India a window to look at its own citizens

As protests roil American towns and foreign leaders respond with regret and reproach, in the wake of President Trump's ban on travellers from seven Muslim-majority countries, and the world revisits the meaning of nations, citizenship, migration, globalisation and human rights, it would not be out of place for New Delhi to take another hard look at its own policies on Indian citizenship, not to speak of visas and migrants who trudge to India seeking economic and political refuge. The Indian diaspora is huge, sprawling and multi-layered. Migrant labourers, students who left home to study abroad and went on to become entrepreneurs and professionals in foreign lands, the descendants of people indentured by the colonial government to work plantations on distant shores, traders who smelt opportunity and tagged along, young women who travelled abroad to join men who wanted desi brides, old parents who joined their offspring in their new homes,

everyone takes citizenship of their adopted land as a natural course and right. But the obverse does not hold when it comes to people who apply for Indian citizenship. The Times of India recently reported the demise of a priest who had spent 67 years of his life in India, working among tribal people in Raigarh, and had to wait for 38 years to get Indian citizenship after applying for it. Leave alone economic migrants who come into the country from across the border, and are looked upon as a threat, mitigating which by bundling them back to their homeland figures as an election promise and whips up chauvinistic passions in more than one state, even people who come to India because of an Indian spouse or because they are enchanted by India's history and culture find it tough to obtain Indian citizenship.

Indians lay claim to a tradition of universality, of subsuming seeming difference in the commonality of people's ultimate quest and destiny. It should inform India's policy on granting citizenship, and of course, visas, then would indeed have some good come out of unmitigated nastiness in the US.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 31-01-17

सौर ऊर्जा क्षेत्र की तस्वीर में बदलाव

राष्ट्रीय निवेश एवं बुनियादी ढांचा कोष सौर ऊर्जा क्षेत्र में एक बड़ा बदलाव लाने वाला साबित हो सकता है। इस संबंध में विस्तार से जानकारी दे रहे हैं विनायक चटर्जी

सौर ऊर्जा क्षेत्र के लिए क्या हमें भी एनएचएआई (भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण) जैसे किसी संस्थान की आवश्यकता है? इस समय देश का बिजली उद्योग भारी विडंबना से गुजर रहा है। ऊर्जा के सबसे शुद्ध माध्यमों में से एक सौर ऊर्जा को कमोवेश उन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है जिनसे कोयला आधारित बिजली उत्पादन को जूझना पड़ा है। गौरतलब है कि कोयले से बनने वाली बिजली सबसे अधिक प्रदूषण उत्पन्न करके बनती है। अगर इन समस्याओं को हल नहीं किया गया तो सन 2022 तक 100 गीगावॉट बिजली उत्पादन क्षमता वाला देश बनने की भारत की खाहिश, खाहिश ही रह जाएगी। फिलहाल देश की बिजली उत्पादन क्षमता 8.5 गीगावॉट है।

पश्चिम एशिया, कनाडा, अमेरिका और यूरोप से ताल्लुक रखने वाले दीर्घावधि वाले विदेशी संस्थागत निवेशक इस क्षेत्र में अरबों डॉलर की राशि का निवेश करने को तैयार हैं। ऐसे निवेश की यहां सख्त आवश्यकता भी है। अगर हमें सन 2022 तक सौर ऊर्जा और पवन ऊर्जा (60 गीगावॉट) के लक्ष्य हासिल करने हैं तो इस मद में करीब 200 अरब डॉलर के निवेश की आवश्यकता होगी। इन लक्ष्यों को हासिल करने की कोशिश में सरकार ने एक व्यापक ढांचा पेश किया है। इसका लक्ष्य है इस क्षेत्र को पारंपरिक माध्यमों की तुलना में अधिक व्यवहार्य और प्रतिस्पर्धी बनाना। वर्ष 2010 में राष्ट्रीय सौर मिशन की मदद से सौर क्षमता में इजाफा करने की शुरुआत की गई। इस दौरान सौर पार्क और सब्सिडी आदि से जुड़ी पहल की गई। इसके अलावा वायबिलिटी गैप फंडिंग (वीजीएफ) पर भी ध्यान दिया गया। फरवरी 2016 में सरकार ने तीसरी वीजीएफ योजना पेश की। इसके लिए 5,050 करोड़ रुपये का कोष निर्धारित किया गया। इसका क्रियान्वयन भारतीय सौर ऊर्जा निगम (एसईसीआई) की मदद से किया जाना था। इस वीजीएफ योजना का लक्ष्य 5,000 मेगावॉट क्षमता स्थापित करना है। इसके साथ ही तीन वीजीएफ योजनाओं की मदद से कुल क्षमता बढ़कर 7,750 मेगावॉट तक पहुंच जाएगी।

एसईसीआई ने बिजली उत्पादकों के साथ बिजली खरीद समझौते पर हस्ताक्षर किए और थोक खरीदारों और डेवलपर्स के साथ भी एक के बाद एक बिजली खरीद समझौते किए गए। एसईसीआई के लिए वीजीएफ की व्यवस्था सरकार बजट में करती है और टैरिफ भुगतान विभिन्न

इकाइयों और थोक खरीदारों से जुटाई गई राशि से की जाती है। संस्थागत रूप से देखा जाए तो एसईसीआई ने कई बदलाव देखे हैं। वह गैर मुनाफे वाले संगठन से एक ऐसे कारोबारी संगठन में बदल गया है जिसे मुनाफा कमाने की इजाजत है। अब उसे सलाह-मशविरे से लेकर विभिन्न प्रकार की सेवाएं देने तक की इजाजत प्रदान कर दी गई है।

परंतु बहुत बड़ी संख्या में सौर ऊर्जा परियोजनाओं के सामने अव्यवहार्य होने का जोखिम उत्पन्न हो गया है। ऐसा इसलिए हुआ है क्योंकि डेवलपर्स ने संबंधित अनुबंध हासिल करने के लिए अत्यंत कम शुल्क दरों की बोली लगाई। जबकि उनको पता था कि सौर ऊर्जा की अधिकतम पूंजीगत लागत हाल के वर्षों में नाटकीय रूप से गिरी है। ऐसी आक्रामक बोली प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ऐसी दरें सामने आईं जिसके चलते परियोजना अवधि के दौरान प्रतिफल की दरें निवेशकों को देखते हुए अत्यधिक अनाकर्षक हैं। इसकी वजह से वित्तीय संवरण हासिल करने में कई गंभीर दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है। इस समस्या में एक और इजाफा यह है कि बिजली की मुख्य खरीदार यानी बिजली वितरण कंपनियां अक्सर बिजली निर्माता कंपनियों को समय पर और नियमित भुगतान नहीं कर पातीं। भूमि अधिग्रहण और जमीन खाली कराने आदि के मुद्दे भी संकट में इजाफा कराने वाले हैं। इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि सौर ऊर्जा की दरों में भी गिरावट आई है, बैंकर और निवेशक कई सौर ऊर्जा परियोजनाओं की व्यवहार्यता को लेकर काफी परेशान हैं।

दीर्घकालिक स्थायित्व की आधारशिला होनी चाहिए राष्ट्रीय सौर मिशन के अधीन क्षमता में इजाफे की एक दीर्घकालिक योजना तैयार करना। इसमें निजी-सार्वजनिक भागीदारी वाली परियोजनाओं और सरकारी परियोजनाओं को लेकर लक्ष्य तय होने चाहिए। शायद यहां सबसे बेहतर उदाहरण सड़क क्षेत्र और राष्ट्रीय राजमार्ग विकास कार्यक्रम है। इस दौरान इसे कई वर्षों का लक्ष्य लेकर चलना चाहिए और सड़क क्षमता सुधार के कई स्वरूपों पर काम करना चाहिए। कटु से कटु आलोचक भी इस बात से इनकार नहीं करेंगे कि एनएचएआई के निर्माण ने देश में सड़क निर्माण के नेटवर्क के व्यापक विकास को अत्यावश्यक विस्तार प्रदान किया। परंतु सौर ऊर्जा और नवीकरणीय ऊर्जा के लिए ऐसा कार्यक्रम चलाने के लिए भी ऐसे ही एक संस्थान की आवश्यकता होगी जो इस क्षेत्र के लिए नोडल एजेंसी के रूप में काम करता हो। कह सकते हैं कि सौर ऊर्जा क्षेत्र के लिए एसईसीआई यह भूमिका निभा सकती है। एसईसीआई को नवीकरणीय ऊर्जा क्षेत्र का मुख्य परिचालन और वित्तीय आधार बनाया जाना चाहिए। उसे अपनी तरह के अलग वित्तीय और विकास संस्थान के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। यह राष्ट्रीय निवेश एवं बुनियादी विकास कोष (एनआईआईएफ) की मदद ले सकता है जो 20,000 करोड़ रुपये के कोष के साथ इस उद्देश्य के लिए सटीक है। इतना ही नहीं इस कोष के आगे समृद्ध होकर 40,000 करोड़ रुपये और उससे अधिक हो जाने की भी उम्मीद है। एनआईआईएफ इसमें एक अहम हिस्सेदार की भूमिका निभा सकता है।

दूसरा चरण है यह सुनिश्चित करना कि प्रस्तावित एनआईआईएफ और एसईसीआई मंच को वित्त व्यवस्था का स्थायी जरिया मिल सके जो बजटीय सहयोग से परे हो। अनुमान के मुताबिक प्रति टन उत्पादित होने वाले कोयले पर स्वच्छ पर्यावरण उपकरण की राशि वर्ष 2016-17 में करीब 24,000 करोड़ रुपये होगी। इस पूंजी को आवर्ती पूंजी के रूप में इस्तेमाल में लाया जा सकता है। अन्य स्वच्छ उपकरण को भी भविष्य में इस काम में इस्तेमाल किया जा सकता है। वित्त की यह व्यवस्था काफी हद तक दुनिया भर में मान्य अन्य व्यवस्थाओं की तरह ही है। उन जगहों पर भी प्रदूषणकारी ईंधन पर कर लगाया जाता है और स्वच्छ ऊर्जा में क्रॉस सब्सिडी निवेश में उनका इस्तेमाल किया जाता है। देश की सौर ऊर्जा संबंधी पहल को दुनिया भर में काफी सराहना मिली है। अब वक्त आ गया है कि हम इसे एक स्थायी मॉडल प्रदान करें ताकि वर्ष 2022 तक 100 गीगावॉट उत्पादन क्षमता का लक्ष्य हासिल किया जा सके।

(लेखक फीडबैक इन्फ्रा के चेयरमैन हैं। लेख में प्रस्तुत विचार पूर्णतया निजी हैं।)

Date: 30-01-17

The promise makers

In this season of manifestoes that brim with tall pledges, parties must remember that voters don't forget



Every election season, the rain of the freebies begins. The real monsoon may fail but this monsoon never does. The people are suddenly swamped by a flood of promises. Suddenly, political parties of all ideologies remember the poor aam aadmi whose needs and aspirations must be met urgently. Whether it's women, youth, Scheduled Castes/Scheduled Tribes or minorities, slum dwellers or residents of unauthorised colonies, they all become important. Their needs and desires are rediscovered. The promises are wide-ranging — free power and water, cheap foodgrain, televisions, washing machines, pressure cookers, farm loans, school uniforms and books and, to keep pace with the 21st century, laptops and

smartphones.

The promises can be divided into two groups: Those before the announcement of elections and those after the announcement when the model code of conduct comes into play. Promises before the announcement of elections are the privilege of the ruling parties who belatedly remember the commitments they had made before the previous election but had forgotten conveniently. These may include subsidies, price cuts, reservations, new schemes, etc. The party is in a hurry to make such announcements before the model code of conduct kicks in. It does not seem to matter what damage the populist schemes would do to the economy of the state. The intelligentsia and economists start debating bad economics versus good politics. The verdict, however, is announced by the voters.

Promises of the second kind are the ones announced through the manifesto, released before or after the elections have been announced. These did not attract the model code of conduct — till recently. The Rs 2 kilo rice, free TVs, laptops, bicycles etc have all happened through this device. Ideally, the manifestoes should be announced immediately after the announcement of the poll schedule by the Election Commission. But the parties tend to wait till the very end so that they can out-promise their rivals. After the first manifesto is out, a fierce debate follows about the legality or propriety of the promises, besides the feasibility of their implementation. The EC is flooded with requests to declare them illegal.

The fact is that manifestoes are perfectly legal, even if their promises are unrealistic and irresponsible. The EC had no power to question these. The matter had gone to the Supreme Court which also found itself faced with a great dilemma. In its judgement of July 5, 2013, it accepted that the manifesto promises cannot be construed as “corrupt practices” under the Representation of the People Act though they do “influence” the people and “shake the roots of free and fair elections”. It directed the EC to frame guidelines with regard to the content of manifestoes in consultation with all the recognised political parties.

In their meeting with the EC, most political parties, as expected, vehemently opposed any regulation, arguing that, in a democracy, it is their “right and duty” towards voters to make such offers and promises through the manifestoes. Agreeing with this in principle, the EC, however, mentioned its “undesirable impact”. In deference

to the SC directions, the EC issued guidelines for political parties to state the rationale for the promises in the manifestoes and the ways and means to meet the financial requirement for them. These guidelines were added to the model code of conduct as Part VIII.

On August 23, 2016, the AIADMK was “censured” for not giving a rationale and ways and means to meet financial requirements for a whole range of poll promises in its manifesto for the Tamil Nadu assembly election in 2016. This was held a violation of the guidelines on election manifestoes contained in Part VIII of the model code of conduct. On the same day, the DMK was also held guilty of not giving the rationale for the promises and ways and means to meet the financial requirements, though the party provided it to the EC subsequently in reply to its notice. It was “advised” to be careful in future. The manifesto being a perfectly legal and legitimate democratic instrument, if the promises are unrealistic or absurd, it is more important for the rival parties to expose the deceit. Even if the common voters do not understand that the promises are un-implementable, they do remember what promises were made at the last election and have not been fulfilled. Voters are now seen to be constantly rewarding good governance and punishing non-delivery.

A moot question is why the politicians have memory loss and forget their promises after the election, their minds becoming fertile with all the bright ideas for new schemes only around the next elections. Voters, gullible though they are, have come to understand it. Opposition parties and the ever alert media keep reminding them of forgotten or broken pledges. A contrarian view, however, is that promises like cheap foodgrain and free items of utility have done considerable good. With Rs 2 kg rice, starvation deaths don't happen any more. The necessities/comforts of life which people could see only in their dreams now sometimes reach them. Distribution of bicycles in Bihar has improved enrolment and retention of girls in schools. Loan waivers for farmers have prevented many suicides. Employment guarantee schemes have brought visible relief to the rural poor (but scarcity of domestic help for the urban rich!).

The new reality is that with all the parties offering the same or similar freebies, the expected political advantage gets neutralised. Whichever party the people vote for, they will end up getting a similar package. Recently, Prime Minister Narendra Modi flagged the need for simultaneous elections. The reasons he gave were the disruption of the normal working of government and the enormous cost of the election to political parties and the government. One could add one more reason for this demand — too many elections mean too many populist promises that affect the economy.

S Y Quraishi The writer is former Chief Election Commissioner of India and author of 'An Undocumented Wonder — The Making of the Great Indian Election'

 **जनसत्ता**

Date: 30-01-17

ट्रंप का तुरूप

अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने पदभार संभालने के साथ ही अपने चुनावी वादों पर अमल करना शुरू कर दिया है। सबसे पहले उन्होंने सात मुसलिम बहुल देशों के नागरिकों को अमेरिकी वीजा देने पर रोक लगा दी है। शरणार्थियों के अमेरिका आने पर अगले आदेश तक रोक लगा दी गई है। शनिवार को इससे संबंधित ट्रंप के कार्यकारी फैसले के बाद ही अमेरिकी प्रशासन ने कार्रवाई भी शुरू कर दी। हालांकि नागरिक अधिकारों के लिए काम करने वाले एक संगठन की याचिका पर वहां की अदालत ने ट्रंप के आदेश के विरुद्ध फैसला सुना दिया। इस पर ट्रंप ने कहा कि वे मुसलिम समुदाय के खिलाफ नहीं हैं, बल्कि सिर्फ मुसलिम आतंकवाद को रोकना चाहते हैं। मगर उनका यह तर्क किसी के गले नहीं

उतर रहा। स्वाभाविक ही उनके इस फैसले पर अमेरिका सहित दुनिया भर में विरोध शुरू हो गया है। यहां तक कि गूगल जैसी कंपनियों ने भी इस पर आपत्ति जताई है। गौरतलब है कि चुनाव के समय ट्रंप ने कहा था कि मुसलिम समुदाय के लोगों की प्रोफाइलिंग होनी चाहिए, यानी उनके धर्म, नस्ल आदि के आधार पर तय होना चाहिए कि वे अमेरिका के लिए कितने सहयोगी हैं।

दरअसल, 9/11 के आतंकी हमले के बाद से ही अमेरिका में एक बड़ा तबका मुसलमानों को संदेह से देखता आ रहा है। उन्हें लगता है कि मुसलिम देश आतंकवादियों को पनाह देते हैं और वे सब अमेरिका के खिलाफ नफरत से भरे हैं। इसलिए विभिन्न देशों से अमेरिका गए बहुत सारे मुसलमान खुद को असुरक्षित महसूस करते रहे हैं। कई बार अनेक लोगों को सिर्फ इसलिए अमेरिकी प्रशासन की नाहक ज्यादतियों का सामना करना पड़ा कि उन्होंने दाढ़ी रखी थी या फिर वे मुसलिम थे। ऐसे में ट्रंप ने चुनाव प्रचार के समय मुसलिम समुदाय के खिलाफ कड़े कदम उठाने का वादा करके नस्लवादी भावनाओं को हवा दी थी। मुसलिम देशों के खिलाफ इस तरह भेदभावपूर्ण फैसला करके ट्रंप भले कुछ मुसलिम-विरोधी अमेरिकी लोगों की भावनाओं को तुष्ट करने में कामयाबी पा लें, पर इससे उनके लिए कई मुश्किलें पैदा होंगी।

ट्रंप ने भले सफाई दी हो कि वे मुसलिम समुदाय के खिलाफ नहीं हैं, पर शरणाथियों के मामले में जिस तरह उन्होंने कहा कि ईसाइयों को प्राथमिकता दी जाएगी, उससे जाहिर है कि उनका कदम मानवीय आधार पर उचित नहीं है। यह ठीक है कि अमेरिका के विरुद्ध आइएसआइएस जैसे संगठन लगातार सक्रिय रहे हैं और वे मुसलिम समुदाय के युवाओं को बरगलाने में कामयाब होते रहे हैं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि इस आधार पर मुसलिम देशों के सभी नागरिकों को संदिग्ध करार दे दिया जाए। बहुत-से लोग रोजगार, कारोबार, पढ़ाई-लिखाई के सिलसिले में अमेरिका आते-जाते रहते हैं। इसी तरह अमेरिकी लोगों को भी कारोबार आदि के सिलसिले में मुसलिम बहुल देशों का रुख करना पड़ता है। बहुत सारी अमेरिकी कंपनियों ने विभिन्न देशों में अपने कारोबार फैला रखे हैं। आश्चर्य नहीं, जब प्रतिबंधित मुसलिम बहुल देश भी प्रतिक्रिया में ऐसा ही कोई कदम उठाएं। इसलिए ट्रंप के ताजा फैसले से न सिर्फ मुसलिम देशों के लोगों, बल्कि अमेरिकी नागरिकों को भी परेशानियों का सामना करना पड़ेगा। फिर, ताजा फैसले से मुसलिम बहुल देशों में आतंकवाद को अपनी जड़ें और मजबूत करने का मौका मिल सकता है। इस तरह चरमपंथ के खिलाफ अमेरिका की लड़ाई बिखरने का भी अंदेशा बन सकता है। इसलिए आतंकवाद रोकने के लिए दूसरे व्यावहारिक तरीकों पर विचार किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय
सहारा

Date: 30-01-17

विरोध का तर्क

जब-जब इतिहास को रूपहले पर्दे पर स्थान दिया गया है, उस पर विवाद भी हुआ है और विरोध भी। वैसे, इतिहास के आधार पर प्रचलित तयों और मान्यताओं को चुनौती देने में हमेशा जोखिम रहा है। संजय लीला भंसाली की फिल्म “पद्मावती” के एक प्रेम दृश्य पर राजस्थान की राजपूत करणी सेना को इस कदर गुस्सा आया कि उसकी समर्थक टुकड़ी ने भंसाली पर हमला बोल दिया। राजस्थान के इतिहास से लेकर लोकगीतों में रानी पद्मावती का एक आत्मसम्मान से दीप्त नारी का आदरणीय स्थान रहा है। मेवाड़ के एक खास समुदाय के लोग उनसे अपना

तादात्म्य स्थापित करते हैं। उनका मानना है कि पौराणिक आख्यानोँ और लोक-आस्थाओं में रचे-बसे चरित्र में अनर्गल छेड़छाड़ को क्रिएटिव फ्रीडम के नाम पर सही नहीं ठहराया जा सकता।

इतिहास है कि पति की वीरगति प्राप्त हो जाने के बाद खिलजी के हाथ पड़ने के बजाय पद्मावती ने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए जौहर करना उचित समझा था। अब ऐसी इन्हीं पद्मावती को खिलजी के सपने में आता दिखाया गया है। यही बर्दाश्त नहीं हो रहा है। यह जन भावना है। पर जब कोई ऐतिहासिक तथ कला में आता है तो उसके दूसरे पक्षों को भी देखना लाजिमी हो जाता है। स्वाभिमान की रक्षा का चुनाव पद्मावती का था, उसी तरह खिलजी को सपने देखने से कैसे रोका जा सकता है।

आखिर सपने देखना तो इंसानी फितरत है। इस पर पाबंदी कैसे लगाई जा सकती है। फिर अगर इतना बड़ा आक्रमण ही पद्मावती को पाने के लिए हो रहा है, ऐसे में उनका ख्याल भी खिलजी के मानस में आने को अस्वाभाविक कैसे कहा जा सकता है? यह न दिखाया या लिखा गया तो किरदार अधूरे और निर्जीव होंगे। यही लोक आस्था और कलात्मक “आजादी” का वह बड़ा अंतर है, जिसको न समझने की वजह से विवाद हो रहा है। दूसरे यह कि सियासी राजनीति भी आग में घी डाल रही है। विवाद को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। यह मानते हुए कि विरोध करने की लक्ष्मण रेखा पार करने का हक किसी को नहीं है। प्रकारांतर से इस कांड ने राजस्थान की उस घोषित आदर्श संहिता की क्षति पहुंचाई है-पधारो म्हारे देश। इससे राजस्व का भी काफी नुकसान हुआ है जबकि यह बात फिल्म निर्देशक के साथ मिल बैठ कर सुलझाई जा सकती थी।
